



सप्तम् अध्याय

उपसंहार



## उपसंहार

भारतीय समीक्षा-शास्त्र का इतिहास पर्याप्त प्राचीन है। उसकी गौरवमयी एवं विस्तीर्ण परम्परा के उन्नयन में संस्कृत साहित्य के तत्त्वान्वेषी मनीषियों का विशिष्ट योगदान रहा है। विद्वानों ने वैदिक ऋषियों में भी संस्कृत-समालोचक के स्वरूप-दर्शन किये हैं। कुप्पुस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'द हाईवेज एण्ड बाईवेज ऑफ क्रिटिसिज्म इन संस्कृत' में ऋग्वेद के मंत्र-द्रष्टा को एक अनभिज्ञ समालोचक के रूप में प्रतिष्ठित किया है। शंकरन ने 'ऋग्वेद की एक ऋचा को उद्धृत करके यह सिद्ध किया है कि उस काल के मंत्र-द्रष्टाओं को भी काव्य के वाह्य और आभ्यन्तर भेदों का ज्ञान था। उन्हें आभ्यन्तर की उत्कृष्टता भी मान्य थी। अतः वैदिक ऋषियों से अर्थात् भारत में अति प्राचीनकाल से ही समीक्षा के एक स्वरूप के दर्शन होते हैं।

आदि कवि वाल्मीकि की समीक्षात्मक दृष्टि अत्यन्त सुस्पष्ट है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'रामायण' के प्रथम श्लोक की स्वयं ही समालोचना (आत्मालोचना) की है। वस्तुतः उनकी इस आलोचना में साहित्यशास्त्र का वह महान सिद्धान्त निहित है जो केवल पूर्वी नहीं अपितु पश्चिमी विद्वानों को भी अब मान्य हो गया है। भारतीय समीक्षा-पद्धति का तो यह सिद्धान्त प्राण ही है। आदिकवि ने जिस सत्य का दर्शन किया है उसी को परवर्ती आचार्यों ने 'ध्वनि' के नाम से पुकारा है। उसी

में रस, वस्तु और अलंकार का समावेश भी हो जाता है। इन वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुभूति ही भाषा का रूप धारण करने पर काव्य कहलाती है। कवि अपनी ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी अनुभूति को भाषा के माध्यम से अभिव्यंजित करता है अथवा अनुभूति स्वयं अभिव्यक्ति में परिणत हो जाता है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा के उद्भव के सम्बन्ध में किसी निश्चित तिथि का उल्लेख करना तो यद्यपि कठिन है, तथापि 'यह एक व्यापक सत्य है कि उसकी क्रमबद्ध परम्परा भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से ही उपलब्ध होती है। भरतमुनि ही वह प्रथम साहित्याचार्य हैं जिनसे भारतीय साहित्य-शास्त्र की एक सुदृढ़ एवं निश्चित परम्परा का प्रारम्भ होता है। इसके साथ ही इस परम्परा के उन्नयन एवं काव्य के विविध स्वरूपों का विस्तृत विवेचन करने में भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' के अतिरिक्त 'काव्यालंकार', 'काव्यादर्श', 'ध्वन्यालोक', 'काव्यामीमांसा', 'काव्यप्रकाश' आदि रचनाओं का नामोल्लेख भी अनिवार्य है, क्योंकि इस परम्परा में इन रचनाओं का स्थान विशिष्ट एवं गौरव अक्षुण्ण है। अतः यह कहा जा सकता है कि भरतमुनि से लेकर पण्डित राज जगन्नाथ तक संस्कृत साहित्यालोचना की एक अत्यन्त प्रौढ़ समीक्षा परम्परा निरन्तर प्रवाहमान है, जिसने हिन्दी साहित्य को विशेष रूप से हिन्दी-समीक्षा को अत्यन्त प्रभावित किया है। हिन्दी में रीतिकाल का सारा विवेचन तो इसकी पुनरावृत्ति मात्र ही है। आधुनिक समीक्षा की भी यह चिरन्तन आधारशिला है।

हिन्दी के जन्म से पहले ही संस्कृत-साहित्य में रीति-ग्रन्थों का निर्माण हो रहा था। संस्कृत-साहित्य के अन्यान्य आचार्यों ने लक्षण-ग्रन्थों का प्रणयन हिन्दी के जन्म से शताब्दियों पूर्व ही अत्यन्त सारगर्भ एवं विश्लेषणात्मक पद्धति से

किया था। यही कारण है कि हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा सीधी संस्कृत के अनुरक्षण से ग्रहीत हुई है। हिन्दी के रीतिकाल की रचनाएं संस्कृत-रीति-ग्रन्थों का ही अनुकरण है। हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की परम्परा पर्याप्त पुरानी है, किन्तु प्रमाणों के अभाव में इस परम्परा के उद्भव की निश्चित तिथि नहीं बताई जा सकती। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास-ग्रन्थों 'शिवसिंह सरोज', 'मिश्र बन्धु विनोद', हिन्दी साहित्य का इतिहास में 'पुष्य' नामधारी साहित्यकार का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने हिन्दी समालोचना के इतिहास में, सर्वप्रथम अलंकारशास्त्र पर एक ग्रन्थ का प्रणयन किया था, परन्तु उनका ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध है। शुक्ल जी के मतानुसार, 'जनश्रुति संवत् 770 में भोज के पूर्व राजा भान के सभासद पुष्य नामक किसी बन्दीजन के दोहों में एक अलंकार-ग्रन्थ लिखना बताती है, पर इसका कहीं कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

हिन्दी-आलोचना का उद्भव भक्तियुगीन सर्जनात्मक कृतियों के साथ ही हुआ है, क्योंकि सूर और तुलसी के पूर्व तक देश में पर्याप्त शान्ति स्थापित नहीं पाई थी और न हिन्दी का साहित्य ही इतना प्रौढ़ को पाया था कि हिन्दी भाषा-भाषी जनता का ध्यान रीति-ग्रन्थों की ओर जाता, इसलिए पुष्य नामक किसी भाँट द्वारा प्रणीत अलंकार-शास्त्र पर यदि किसी ग्रन्थ का अस्तित्व स्वीकार भी किया जाए, तब भी यह कहना अनुचित न होगा कि यह परम्परा हिन्दी साहित्य में पूर्ण रूप से चल नहीं सकी। यही कारण है कि हिन्दी में आठ-नौ सौ वर्षों तक प्रायः किसी भी महत्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का अस्तित्व नहीं पाया जाता। 16वीं शती के अन्त में अथवा 17वीं शती विक्रमी के प्रारम्भिक वर्षों में ही सूर और तुलसी के काव्य-ग्रन्थों में काव्य शास्त्रीय चर्चा का विशद्-विवेचन यत्र-तत्र

प्राप्त होता है। 'पर वास्तविक अक्षुण्ण परम्परा तो इस शताब्दी के अन्त में प्रारम्भ हुई थी जो किसी न किसी रूप में अब तक चल रही है।' इस तरह हिन्दी में रीति ग्रन्थों अथवा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का विधिवत् प्रणयन पर्याप्त अर्वाचीन ही मानना होगा, परन्तु इसका तात्पर्य यह है नहीं कि काव्य में की गयी समीक्षात्मक चर्चाएँ महत्वहीन हैं, तुलसी आदि काव्यशास्त्रीय मान्यताएँ भी पर्याप्त उपयोगी हैं और हिन्दी काव्यशास्त्र के उद्भव एवं विकास में उनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष योगदान ऐतिहासिक महत्व का है। वस्तुतः तुलसी की 'वरवै रामायण', सूर की 'साहित्य लहरी' का साहित्यिक महत्व उतना नहीं है, जितना कि काव्यशास्त्रीय महत्व। इस संदर्भ में सूर और तुलसी की इन कृतियों के अतिरिक्त कृपाराम की 'हिततरंगिणी' मोहनलाल मिश्र का 'शृंगार सागर' करनेश के 'कर्णभूषण', श्रुतिभूषण, भूपभूषण, आचार्य केशवदास की 'कविप्रिया', 'रसिक प्रिया', आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

केशवदास के लगभग पचास वर्ष उपरान्त चिन्तामणि ने रीति-परम्परा के आधारभूत ग्रन्थों-काव्य प्रकाश, साहित्यदर्पण और चन्द्रलोक का प्रणयन किया। तदुपरान्त हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में रीति-ग्रन्थों का प्रचुर मात्रा में प्रणयन हुआ है। संस्कृत के रीति ग्रन्थों के अनुकरण के आधार पर लोगों ने हिन्दी-साहित्य में रीति-ग्रन्थों का निर्माण किया, परन्तु इनके ग्रन्थों में प्रायः उच्चकोटि की सूक्ष्म विवेचन मौलिकता का अभाव है। प्रायः 'संस्कृत से अनभिज्ञ कवियों को काव्य-शास्त्र के ज्ञान के लिए साधारण कोटि की सामग्री ही उपस्थित हो सकी। रीतिकाल के अधिकांश रीतिकार कवि ही थे। वे आचार्यत्व की कोटि में कम ही आ सके। गूढ़ विवेचन के अभाव का एक प्रबल कारण गद्य की अविकसित अवस्था भी है। उस

काल में गद्य-रचना की पुष्ट परम्परा नहीं थी। चिन्तामणि, कुलपति, श्रीपति, सेनापति, देव, सुरति मिश्र, भिखारीदास आदि ने अपने ग्रन्थों का निर्माण संस्कृत-समीक्षा ग्रन्थों के आधार पर करके हिन्दी की रीतिकालीन समीक्षा को पर्याप्त सुदृढ़ बनाया और यह रीतिकालीन आलोचनात्मक चेतना ही विकसित होकर आधुनिक समीक्षा में एक प्रकार से नवीन रूप धारण कर गयी। इस चेतना ने आधुनिक समीक्षा के विकास में सहयोग और प्रेरणा भी प्रदान की है।

भाषा-प्रयोग-विधि या 'काव्य भाषा' की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी कविता की विवेचना के लिए कुछ नये विचार-सूत्रों के प्रस्तुतीकरण का श्रेय मुख्यतः डॉ. <sup>राम</sup>स्वरूप चतुर्वेदी जी और उनकी कृति 'भाषा और संवेदना' को है। डॉ. चतुर्वेदी ने अपनी इस कृति में 'काव्य भाषा की सैद्धान्तिक चर्चा और उसके मौलिक प्रतिमानों के आधार पर कुछ विशिष्ट कवियों की रचनाओं और युगीन प्रवृत्तियों की व्यावहारिक परीक्षा भी की है। वस्तुतः चतुर्वेदी जी भी आलोचना की नयी भूमिका के लिए भाषा-संरचना का व्यापक अध्ययन करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में नयी कविता के युग में आज जब कविता के सभी परम्परागत भेदक लक्षण, तुक, छन्द, अलंकार, लय धीरे-धीरे विलुप्त हो चले हैं, तो काव्य-भाषा ही वह अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार शेष रह जाता है, जिसके सहारे कविता के आन्तरिक संघटन को समझने की चेष्टा हो सकती है। यों तो प्रत्येक युग के काव्यबोध समझने के लिए कवि की भाषा-प्रयोग-विधि शायद सबसे महत्वपूर्ण कुंजी सिद्ध हो सकती है, परन्तु आधुनिक कविता का मर्म ग्रहण करने के लिए काव्य-भाषा का उपादान ही एकमात्र विश्वसनीय माध्यम रह गया है, जिससे इस युग विशेष के काव्य-सर्जन की क्षमता को समझ सकते हैं।'

भाषा और अनुभूति के अद्वैत को केन्द्र में रखकर समीक्षा के क्षेत्र में सक्रिय डॉ. चतुर्वेदी साहित्य में संवेदना को महत्व देते हैं, यह मानते हैं कि भाषा और संवेदना की स्थिति संश्लेषणात्मक है। भाषा और संवेदना दोनों का विकास युगपत होता है। संवेदना के विकास स्तरों को भाषा के विकास-स्तरों के साथ पहचाना जा सकता है। उनकी मान्यता है कि चित्रवृत्तियों का संश्लेष ही संवेदन है। रचनाकार युग विशेष की संवेदना को समझ कर अपनी रचना में उसे प्रतिबिम्बित करता है। संवेदना का बदलाव साहित्यिक युग के बदलाव का साक्षी होता है। इसलिए चतुर्वेदी जी साहित्यिक विकास के साथ-साथ संवेदना के विकास को रेखांकित करना इतिहासकार के कर्म का आवश्यक अंग मानते हैं। मानवीय संवेदना को साहित्यिक अभिव्यक्ति देने के कारण मानव जीवन में भाषा का विशेष महत्व है। सच्चाई तो यह है कि मानव के पशु-सुलभ धरातल से ऊपर उठकर मनुष्य बनने की प्रक्रिया भाषा के आविर्भाव से ही शुरू हुई थी। चतुर्वेदी जी के शब्दों में, 'आरम्भिक संवेदनों और सहज वृत्तियों पर निर्भर से ऊपर उठा वयस्क मनुष्य भाषा में अपनी चेतना को सदैव सक्रिय पाता है, यहां तक की स्वप्न में भी उससे छुटकारा नहीं। तब क्या यह नहीं कह सकते कि मनुष्य भाषा में जीता है, जीने का अनुभव करता है और जब तक और जिस सीमा तक भाषा नहीं बनी थी तब तक उस सीमा तक मनुष्य पशु ही था।' चतुर्वेदी जी काव्य की रचना को 'सर्जना' मानते हैं और इसे 'उत्पादन' और 'सृष्टि' से अलग करते हुए कहते हैं- 'उत्पादन में 'एकरूपता' का भाव है, सृष्टि में विशिष्टता का और सर्जन में अद्वितीयता का। यन्त्र से पदार्थों का उत्पादन होता है, सृष्टि जीवधारियों की होती है और सर्जन कलाओं का हो सकता है।'

अपनी पुस्तक 'कविता का पक्ष' (1994) में डॉ. चतुर्वेदी जी ने दो महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं। एक है- राजनीति और विचारधारा के सर्वग्राही चरित्र से कविता की रक्षा, और दूसरा है- सांस्कृतिक प्रदूषण- जो अमेरिकी राजनीतिक सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के फैलाव के साथ हमारी संस्कृति को बुरी तरह प्रदूषित कर रहा है- को दूर करने का, एक ओर कविता की रक्षा भी करनी है और दूसरी ओर सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के फैलाव से उत्पन्न सांस्कृतिक प्रदूषण से अपनी संस्कृति को मुक्त रखने में कविता को जो भूमिका निभानी है उसके प्रति उसे जागरूक भी करना है। निश्चय ही ये दोनों प्रश्न आज के परिवेश में विशेष रूप से विचारणीय हैं। आज के परिवेश में कविता का पक्ष प्रस्तुत करके डॉ. चतुर्वेदी ने एक सजग समीक्षक के दायित्व का निर्वाह किया है।

किसी समीक्षक की समीक्षा-दृष्टि को समझने के लिए उसके द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों पर भी विचार करना आवश्यक है, क्योंकि पारिभाषिक शब्द समीक्षक-विशेष की समीक्षा यात्रा के साक्षी होते हैं। अपनी समीक्षा यात्रा में डॉ. चतुर्वेदी ने अस्तित्ववाद, अतियथार्थवाद, नव मानवतावाद, आधुनिकता, लघुमानव, क्षणवाद, निर्वैयक्तिकता, सृजनात्मकता रहस्यवाद, संवेदना, संवेदनात्मक संघात, भाषिक सर्जनात्मकता, अनुभव की अद्वितीयता, प्रतीक, अभिप्राय, संश्लिष्ट भावचित्र, (बिम्ब) अमूर्तन, आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। आलोचना की परम्परित शब्दावली प्रयोग, आपने कम किया है। 'ध्वनि', 'रस', 'सहृदयता' 'साधारीकरण', 'अप्रस्तुतविधान' जैसे शब्दों का प्रयोग करते हुए डॉ. चतुर्वेदी जी ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि, ये शब्द अब संदर्भच्युत हो गये हैं। डॉ. चतुर्वेदी के प्रिय पारिभाषिक शब्द हैं- 'सर्जनात्मकता', 'संवेदना', 'संश्लिष्ट भावचित्र' या



‘बिम्ब’ तथा ‘विभावन’ इनकी लोकप्रियता का कारण है। आधुनिक अस्तित्ववादी चिन्तन ने जो मृत्यु का आतंक उत्पन्न करके जीवन को अनर्थक बना दिया है उससे बचने के लिए सर्जनात्मकता अनिवार्य है, ‘संवेदन’ चित्तवृत्तियों का वह संश्लेष है, जो युग परिवर्तन के साथ बदलता रहता है। इसलिए साहित्य के विकास के साथ-साथ संवेदना के विकास को रेखांकित करना साहित्य के इतिहासकार के लिए आवश्यक है। ‘संश्लिष्ट भावचित्रों’ या ‘बिम्बों’ की भाषा ही वास्तविक काव्य भाषा है। काव्यभाषा ही वह आधार है जिसके सहारे कविता के संघर्ष को समझा जा सकता है। ‘बिम्ब-विधान’ का विश्लेषण भारतीय काव्यशास्त्र में नहीं हुआ है। इसलिए तात्विक विश्लेषण और व्यवहारिक मूल्यांकन दोनों स्तरों पर बिम्ब विधान को महत्व देना नये समीक्षक का कर्तव्य है। ‘विभाव’ शब्द अपने आप में अत्यन्त प्राचीन है। इसका अर्थ है- प्रत्यक्ष ज्ञान, निश्चय विवेक, निर्णय, विचार-विमर्श, गवेषण प्रत्यय आदि। डॉ. चतुर्वेदी ने इसमें अंग्रेजी के ‘कान्सेप्ट’ का अर्थ सम्पृक्त कर दिया है और इसे एक नयी मर्यादा प्रदान कर दी है। आपके अनुसार, ‘लक्षणा’, ‘व्यंजना’, प्राचीन साहित्यशास्त्र के विभावन हैं। इसी प्रकार ‘प्रतीक’ तथा ‘भावचित्र’ नव्य समीक्षा के ‘विभावन’ हैं। डॉ. चतुर्वेदी ने ‘विभावन’ शब्द का खूब प्रयोग किया है। ‘लोकमंगल का विभावन’, ‘संश्लिष्ट चित्र’ इन दो विशिष्ट परिभाषिक शब्दों में ‘संश्लिष्ट चित्र’ को अधिक महत्व दिया है। ऐसा लगता है कि उन्होंने हिन्दी नव्य-समीक्षा को आचार्य शुक्ल की परम्परा से जोड़ने के लिए इस आधार सूत्र का विवेक और निष्ठा के साथ प्रयोग किया है। उनके अनुसार, आचार्य शुक्ल की आलोचना-प्रक्रिया को समझने के लिए केन्द्रीय शब्दावली है- संश्लिष्ट चित्रण और लोकमंगल। हिन्दी-समीक्षा के इतिहास में ‘लोकमंगल’ की चर्चा अधिक हुई, ‘संश्लिष्ट चित्रण’ की कम। कदाचित् इस कमी को पूरा करने के

लिए चतुर्वेदी जी ने 'संश्लिष्ट चित्रण' को 'संश्लिष्ट भाव-चित्रण' या 'बिम्ब-विधान' के रूप में विकसित किया और इसे अपनी समीक्षा के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया। अतः डॉ. चतुर्वेदी ने अपनी समीक्षा-यात्रा में भाषा और अनुभूति के अद्वैत को पूरी निष्ठा से प्रतिष्ठित किया है और इस अद्वैत को ही सर्जनात्मकता की चरम निष्पत्ति प्रमाणित किया है।

निष्कर्षतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि हिन्दी की आधुनिक समीक्षा का उद्गम-स्थल मात्र पश्चिमी साहित्य नहीं है। उनके मूल स्रोत भारतीय काव्यशास्त्र से उद्भूत हैं। हिन्दी के प्रमुख समीक्षकों की मान्यताएँ भी पर्याप्त मौलिक हैं। यद्यपि पाश्चात्य साहित्यिक अवधारणाओं से उन्होंने पौष्य सामग्री ग्रहण की है, फिर भी उन्होंने अपनी मौलिक चिन्तन को कहीं भी तिरोभूत नहीं होने दिया है। अब ये नवीन साहित्य-सारणियाँ पुष्पित-फलित होती दिख रही हैं। शुक्लोत्तर हिन्दी-आलोचना की साहित्यिक अवधारणाओं का यह प्रतिदान सर्वथा श्रेयस्कर है। अतः एक सार्वभौम साहित्य-चेतना में इसके पर्यवसित हो जाने की अनन्त सम्भावनाएँ हैं। हिन्दी आलोचना के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने एक व्यापक पृष्ठभूमि तैयार की। उन्होंने काव्य के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में नयी चिन्तन-पद्धति का अन्वेषण किया। साथ ही हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन को जनता की चित्तवृत्तियों के साथ जोड़कर नवीन इतिहास दृष्टि दी। उन्होंने आलोचना को व्यावहारिक स्तर प्रदान किया, जिसमें विवेचन और विश्लेषण का पूरा अवसर रहता है सिद्धान्त और प्रयोग का मंजुल सामंजस्य शुक्ल जी की आलोचना में देखा जा सकता है।

रीतिकालीन आचार्य संस्कृत समीक्षा-पद्धति का आधार लेकर चलते रहे। अलंकार रस, ध्वनि आदि के सम्बन्ध में उनकी कोई विशेष मौलिक उद्भावना नहीं है, पर शृंगार के रस राजत्व और नायिका भेद की दृष्टि से इनकी उपलब्धियों को नकारा नहीं जा सकता। छन्द निरूपण में भी इन्होंने कहीं-कहीं नवीनता दिखाया है और कुछ नवीन छन्दों की उद्भावना की है। इन्होंने सैद्धान्तिक और प्रायोगिक आलोचना के सम्बन्ध में जो सम्मिलित दृष्टि दी, वह इनका योगदान कहा जा सकता है। इनकी शास्त्रीय आलोचना पद्धति का प्रभाव हिन्दी की आधुनिक आलोचना पद्धति पर भी पड़ा। इस प्रकार रीतिकालीन हिन्दी आलोचना संस्कृत आलोचना और आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीच सेतु बन्धन का कार्य करती है।

आधुनिक हिन्दी आलोचना अनेक उपलब्धियों के साथ विकसित हुयी। जहाँ इसने पुराने शास्त्रीय मूल्यों के आधार पर कृतियों की परख की, वहीं कृति के प्रभाव से लेकर उसके सम्पूर्ण परिवेश का आकलन भी आधुनिक युग की आलोचना की विशेषता रही। नयी-समीक्षा तो भारतीय और पाश्चात्य साहित्य जगत में विकसित हो रहे नित्य नवीन मूल्यों के पहचान में लगी हुई है। साथ ही नयी आलोचना की अपनी पहचान भी निखरती जा रही है।

शुक्लोत्तर युग ने नयी समीक्षा को जन्म दिया, जिसके अन्तर्गत नयी कविता तथा नवलेखन की विविध स्तरों पर व्याख्या की जा रही है। इस प्रकार की समीक्षा में बौद्धिकता के प्रति आग्रह दिखाई देता है। आधुनिक बोध क्षण का महत्व, काव्यवस्तु का महत्व, कलाकार की आन्तरिकता की परख आदि पर इस प्रकार की समीक्षा में बल दिया जाता है। अज्ञेय, जगदीश गुप्त, विजय देव

नारायण साही, डॉ. रघुवंश, डॉ. लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि ने इस समीक्षा को सशक्त रूप प्रदान किया है। प्रतीक (1943) और नयी कविता (1954) नामक पत्रिकाओं ने नवलेखन के सन्दर्भ में पर्याप्त सामग्री दी। 'नयी कविता के प्रतिमान' (डॉ. लक्ष्मीकान्त वर्मा), आत्मनेपद (अज्ञेय), मानव मूल्य और साहित्य (धर्मवीर भारती), नवलेखन (डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी), साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य (डॉ. रघुवंश) आदि नयी समीक्षा की महत्वपूर्ण कृतियां हैं।

हिन्दी के प्रमुख समालोचकों में डॉ. लक्ष्मीसागर वाष्णेय, डॉ. केशव नारायण शुक्ल, डॉ. शम्भूनाथ सिंह, आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, डॉ. श्रीराम शर्मा, डॉ. भगवत्स्वरूप मिश्र, डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, डॉ. बच्चन सिंह, डॉ. केशरीनाथ सिंह, डॉ. वचनदेव कुमार, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, डॉ. रामरतन भटनागर, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. केदारनाथ सिंह, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, डॉ. सूर्य प्रकाश दीक्षित, बाबू गुलाबराय, देवेन्द्रनाथ शर्मा, डॉ. विद्यानिवास मिश्र, डॉ. भगीरथ मिश्र आदि का नाम उल्लेखनीय हैं।

